अतिथि-संपादक

शिक्षा में वर्ण-व्यवस्था

हमारी सभ्यता के आरंभ से ही शिक्षा मुक्ति का पर्याय है और इसका अभाव गुलामी का। इसलिए बहुत सोच-समझकर मानव गुलामी की प्रथम भारतीय संहिता के संयोजक मनु ने अपनी स्मृति (मनुस्मृति) में व्यवस्था की थी कि शूद्रों को मति मत दो—'न शूद्राय मति दद्यात'। गुलाम बनाये रखने के लिए मति अथवा शिक्षा से वंचित रखना आवश्यक था। यदि इन्हें वंचित न रखा जाता तो उन तमाम सुंदर सुभाषितों, श्लोकों और पदों को पढ़-पढ़कर शूद्र भी मोक्ष (मुक्ति) का आनंद हासिल करने में सक्षम हो जाते और तब फिर द्विजत्व की महिमा क्या रह जाती। मनु के मध्ययुगीन अवतार तुलसीदास अपने रामचरित मानस में शूद्रों के ज्ञान हासिल कर लेने से कम परेशान नहीं थे। 'शूद्र करहिं जप-तप व्रत नाना, बैठि बरासन कहहिं पुराना' या फिर 'बादहिं शूद्र द्विजन्ह सन हम तुमते कछु घाटि'। शूद्र द्विजों से कहते हैं हम तुमसे कम क्या हैं, यही नहीं वे आंख दिखाते हैं, डांटते हैं। परेशान तुलसीदास से इन अनीतियों का वर्णन नहीं किया जाता—'जाई न बरनि अनीति अपारा'। हालांकि तुलसीदास ने नियम कड़े बनाये हैं—'पूजिय विप्र जे वेद विहीना, सूद्र न सील-गुन ज्ञान प्रवीना'। वेद (पुस्तकीय ज्ञान) विहीन विप्र की पूजा करो, लेकिन शील गुण संपन्न ज्ञानी शूद्र की नहीं। तुलसीदास की पीड़ा जायज़ थी। भक्ति आंदोलन के उभार में बड़ी मात्रा में किसान और दस्तकार वर्गों के शूद्र-दलित कवि जीवन और जगत के स्थूल और सूक्ष्म सवालों पर अपना अध्ययन-चिंतन प्रस्तुत करने लगे थे और इन्हें अपार लोकप्रियता मिल रही थी। सबसे ऊपर तो कबीर थे जिनका नाम उन्हीं के शहर में हरेक की जुबान पर चढ़ा था, सहज का दुलीचा डाल वह ज्ञान के हाथी पर बैठे थे और मनुस्मृति के निदेशों-अनुदेशों की धज्जियां उड़ाते हुए मूर्ख द्विजों को मुक्त मन से ज्ञानदान कर रहे

थे। 'साधो, उठी ज्ञान की आंधी'–ज्ञान की आंधी (आंदोलन) उठ खड़ी हुई थी। कोटि-कोटि जनता इनसे अनुप्राणित थी। द्विज ताकतें चौकन्नी हो गईं।

हमारे मुल्क में बार-बार यही हुआ है। जब-जब दलित तबका ज्ञान, मति अथवा शिक्षा हासिल करने के लिए आगे बढ़ा है द्विज ताकतें चौकन्नी हो गई हैं। द्विजवादी अवधारणा अथवा मान्यता यह है कि कुछ को पवित्र रहने के लिए बहुतों को अपवित्र, कुछ को पंडित रहने के लिए बहुतों को मूर्ख और कुछ को सुखी रखने के लिए बहुतों को दुखी रहना जरूरी है। ढाई हजार वर्ष पूर्व बुद्ध ने क्रम को उलट कर अपने अनुयायियों से कहा था–चरथ भिक्खवे चारिकं, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय...' कुछ के लिए नहीं, बहुतों के हित के लिए चारों दिशाओं में फैल जाओ मित्रो। बुद्ध के बहुजन हित के लिए कुछ का दुखी होना आवश्यक नहीं था। वह समत्व का चिन्तन था।

शिक्षा के क्षेत्र में दो चिन्तन धाराओं का टकराव हमारे यहां पुराने ज़माने से है। एक चिन्तन-धारा है शिक्षा को बांधकर रखने की, दूसरी धारा है उसे मुक्त करने की। कमोबेश किसी-न-किसी रूप में यह संघर्ष आज भी जारी है। बल्कि हाल के वर्षों में यह संघर्ष और तीखा हो गया है, जिसकी चर्चा हम थोड़ी देर में करेंगे।

ज़रा अनुमान कीजिए एकलव्य और कर्ण पर क्या गुज़रा होगा। हालांकि दोनों काव्य के पात्र हैं और इनकी ऐतिहासिकता के कोई पुख्ता प्रमाण हमारे पास नहीं हैं। लेकिन काव्य के पात्र यूं ही नहीं बन जाते। काव्य का जो यथार्थ होता है, वह समाज का भी यथार्थ होता है। काव्य में एकलव्य और कर्ण हैं तब तत्कालीन समाज में भी रहे होंगे। काव्य में एक है, समाज में अनेक होंगे।

कर्ण के साथ एक सहूलियत थी। वह कुंती की कुक्षि में सूर्य (सवर्ण) वीर्य से विकसित संतान था। वैवाहिकता की मुहर नहीं लगी थी, तो कवच-कुंडल का अतिरिक्त बोनस मिल गया था। रूप-रंग से द्विज था। कवच और कुंडल भूषित शरीर ने परशुराम तक को भ्रम में डाल दिया। कायदे से वह क्षत्रिय था, कवच-कुंडल के कारण ब्राह्मण दिखने लगा। परशुराम ने उसे गले लगा लिया। लेकिन संस्कारों से भला मुक्ति कैसे मिलती। संस्कार तो दलित (सारथी) के थे। रूप से ब्राह्मण, रक्त से क्षत्रिय और

संस्कारों से दलित। कर्ण की यही ट्रेजेडी थी। उसका अपराध बस यही था कि उसने गुरु की नींद न टूटने दी, अपार कष्ट सहकर भी। परशुराम ने कहा—कष्ट सहने की यह मूर्खता केवल शूद्र कर सकता है। इस तरह उसके शूद्रत्व की पहचान हुई और उसे सारी विद्याओं से विहीन बना दिया गया, सारी डिग्रियां रद्द।

लेकिन एकलव्य। वह तो रूप-रंग, रक्त-संस्कार सबसे दलित था। शत-प्रतिशत शूद्र। इस कारण वह झूठ बोलकर भी किसी परशुराम या द्रोणाचार्य (आज किन्हीं दो ख्याति प्राप्त विश्वविद्यालयों का नाम रख लीजिए) के स्कूल में नामांकन नहीं पा सकता था। इसकी गुंजायश नहीं थी। रंग से सांवला रहा होगा। कवच-कुंडल से रहित। कर्ण की तरह उसके मन में अर्जुन के प्रति कोई चुनौती भी नहीं थी। द्रोणाचार्य के प्रति वह सम्मान जरूर रखता था। भले ही अर्जुन की तरह उनका शिष्य न बन सके, लेकिन अर्जुन से भी ज्यादा गहरे भाव से उनके प्रति सम्मान तो रख ही सकता था। एकलव्य को इस सम्मान की कीमत चुकानी पड़ी। द्विजवाद के वाग्जाल में आकर उसे अपने अंगूठे से हाथ धोना पड़ा। धनुर्धर था इसलिए अंगूठा कटकर ही द्रोण ने संतोष कर लिया। इतने से ही उसका होना न होना बेमतलब था। वेदों पर हाथ फेरा होता तो उसे शंबूक की तरह सिर कटाना पड़ता।

तो यह है हमारे भारत में शिक्षा की महान हिंदू परंपरा। शूद्रों और स्त्रियों के लिए शिक्षा के दरवाजे बंद थे। एकलव्य, शंबूक जाने कितने ऐसे उदाहरण हैं जो इस बात की पुष्टि करते हैं। शिक्षा में बहस के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। गार्गी ने अपने गुरु याज्ञवल्क्य से केवल प्रश्न पूछा था—'ब्रह्म स्वयम्भू है, तो मनुष्य क्यों नहीं।' याज्ञवल्क्य ने यदि गार्गी के प्रश्न पर ध्यान दिया होता, कम से कम उसे धमकाया न होता तो हमारे यहां डार्विन उस जमाने में ही हो जाते। लेकिन गार्गी से कहा गया, तुम्हारी मूर्धा (जुबान) काट लूंगा यदि ऐसा प्रश्न किया—'मूर्धा ते विपतिश्यति'। गार्गी डर गई, सवाल खत्म हो गया।

हमारे देश में जो नवजागरण का आंदोलन था, वह और कुछ नहीं बस शिक्षा के विस्तार का आंदोलन था। राजाराम मोहन राय ने सबसे ज्यादा जोर शिक्षा पर दिया। उन्होंने अश्वघोष की कृति

'वज्रसूचि' का अनुवाद करके यह जतला दिया था कि वह शिक्षा का विस्तार शूद्रों तक करना चाहते थे। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने तो संस्कृत अध्ययन के दरवाजे सभी वर्णों के लोगों के लिए खोलकर एक तरह से नई शिक्षा नीति का सूत्रपात ही कर दिया था। जोतिबा फुले और उनकी समाज सेवी पत्नी सावित्री बाई ने महाराष्ट्र में स्त्रियों और शूद्रों के लिए शिक्षा के दरवाजे खोले। पंडिता रमाबाई ने स्त्री शिक्षा की पुरजोर वकालत की। कबीर ने ज्ञान की जिस आंधी की बात की थी वह जाकर उन्नीसवीं सदी के उतरार्द्ध में उठी। ज्ञान की इसी आंधी का नतीजा था कि हमारे यहां एक सशक्त राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन खड़ा हुआ और अंततः आजादी हासिल हुई।

स्वतंत्रता के बाद शिक्षा का लगभग पूरा मामला सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। यही अपेक्षित था। लेकिन सरकार से जो अपेक्षा थी वह पूरी नहीं हुई। आजादी के पचास वर्षों में भी पूर्ण साक्षरता के लक्ष्य को हम नहीं प्राप्त कर सके हैं, यह हकीकत है। कारण चाहे जो हों, हकीकत शर्मनाक है।

आखिर ऐसा क्यों हुआ। क्या यह सही नहीं है कि शिक्षा के अभाव के कारण शोषित तबकों में अपेक्षित राजनीतिक जागरण नहीं आया और इसके अभाव में नयी लोकतांत्रिक राजनीति पर भी द्विजवादी ताकतें हावी बनी रहीं?

जब लोकतांत्रिक महकमों पर द्विजवादी ताकतें हावी हो गईं तब फिर शोषित तबकों में शिक्षा के विस्तार की गुंजाइश कहां बचती थी। हजारों साल पुराना सांप-नेवले का संघर्ष एक बार फिर शुरू हुआ। शोषित तबकों के बीच से बार-बार शिक्षा के विस्तार की मांग उठायी गई। सरकारी महकमों ने इसमें कोई विशेष रुचि नहीं ली। जो सामान्य विकास संभव था हुआ, कोई सुचिन्तित कार्य-योजना नहीं चलाई गई। राष्ट्रीय बजट के सबसे उपेक्षित मदों में शिक्षा है। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि कोई सुचिंतित राष्ट्रीय शिक्षा-नीति नहीं है।

बहुत ध्यान से देखेंगे तो पायेंगे कि आजादी के बाद के वर्षों में बहुत सुनियोजित तरीके से द्विजवादी अवधारणाओं को शिक्षा-संस्कृति से जोड़ा गया। नेहरू ने जिस साइंटिफिक टेम्पर की बात आजादी के बाद उठायी थी, उसे नज़रअंदाज करके इसे ऐसे लोगों के हाथ में डाल दिया गया जो

डिग्रीधारी तो थे लेकिन संस्कारों से द्विज थे। अब देखिए कि प्रतीक चुनने में भी लोकतांत्रिक व्यवस्था कितनी कुलीन थी कि खेल के लिए सबसे बड़े पुरस्कार का नाम अर्जुन पुरस्कार रखा गया। जिस स्रोत से अर्जुन को जानते हैं, उसी स्रोत से एकलव्य को भी जानते हैं। उसी स्रोत से यह भी जानते हैं कि एकलव्य अर्जुन से बड़ा धनुर्धर था। लेकिन अर्जुन कुलीन था, एकलव्य अकुलीन। सामंती जमाने में अर्जुन को प्रतिष्ठित किया, एकलव्य का अंगूठा काट लिया। लेकिन आज के लोकतंत्र में भी अर्जुन की जगह एकलव्य पुरस्कार क्यों नहीं है? यही है वह द्विज वर्चस्व जिसकी मैंने चर्चा की है। (हमने कभी सोचा है कि किसी दलित को अर्जुन पुरस्कार लेते हुए कैसा लगेगा। क्या उसे एकलव्य की याद नहीं आएगी।)

राजेन्द्र यादव जी की बातों को उधार लूं तो कह सकता हूं अर्जुन और एकलव्य का यह संघर्ष कई रूपों में आज भी हमारे समाज में है। लाखों रुपये कैपिटेशन फीस देकर पढ़ा-डाक्टर लाखों की दहेज लेकर शादी करता है और आनन-फानन में नर्सिंग होम, अस्पताल खुलवाता है। योग्यता से पढ़ा हुआ डाक्टर उसके अधीन रहकर काम करने के लिए विवश होता है। यह है वह 'योग्यतावाद' जिस पर एक बार भी उन लोगों ने नहीं सोचा होगा जो बड़े विह्वल होकर मंडल आंदोलन के दौर में 'योग्यतावाद' का रोना रो रहे थे।

पिछले वर्षों में एक भयानक बात और हुई है। संपन्न तबके ने लगभग शिक्षा की समानांतर व्यवस्था कर ली है। एक समय था जब कलक्टर और चपरासी का बेटा, किसान और जमींदार का बेटा एक ही स्कूल में पढ़ते थे। आज ऐसा नहीं है। कलक्टर का बेटा महानगर के किसी स्कूल में पढ़ेगा, तो चपरासी का बेटा म्युनिसिपल या कोई अन्य सरकारी स्कूल में। किसान का बेटा गांव के सरकारी स्कूल (प्रायः ब्लैक बोर्ड और शिक्षक विहीन) में पढ़ेगा, तो पूंजीपति (नये जमींदार) का बेटा दून में। पुराने जमाने में कम से कम ऐसी व्यवस्था तो थी ही कि कृष्ण और सुदामा (संपन्न और विपन्न द्विज) एक ही स्कूल में पढ़ लेते थे। हमने इस समानता को नष्ट कर दिया है। समाज में कई आर्थिक समुदाय हैं और इनके ही अनुसार कई स्तरों पर स्कूल हैं। ऐसे भी स्कूल हैं जहां क्लास रूम

से लेकर बसें तक वातानुकूलित हैं। दूसरी तरफ 'फटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिसतुइया नाचे' जैसी हालत के स्कूल भी हैं। एक ही राष्ट्र समाज में जब इतने विभेदों के साथ शिक्षा संस्थान रहेंगे तो किस तरह का समाज बनेगा हम कल्पना कर सकते हैं। आज स्कूल अलग-अलग हुए हैं, कल देश अलग-अलग होंगे। आखिर इतने विभेदों के साथ राष्ट्र को हम कैसे इकट्ठा रख सकेंगे?

भारतीय जनता पार्टी की सरकार ने शिक्षा पर अपने अंदाज में ध्यान दिया है। कोई ठोस राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाने में उसकी दिलचस्पी नहीं है। उसके स्तर सुधार या विस्तार की भी कोई योजना उसके पास नहीं है। वह तो बस आनन-फानन कोढ़ में खाज की तरह शिक्षा का भगवाकरण करके अपना उल्लू सीधा करना चाहती है। दरअसल शिक्षा का यह भगवाकरण शिक्षा का द्विजीकरण है। यह प्रच्छन्न नहीं, प्रकट फासीवादी अभियान है और इसकी अंतिम परिणति फिर यही होगी कि कुछ को शिक्षित करने के लिए, बहुतों को अशिक्षित रखो। यदि यह हुआ तो हमारा लोकतंत्र भी टिक नहीं पायेगा। शिक्षा के विस्तार के साथ लोकतंत्र का विस्तार अनन्य रूप से जुड़ा है। शिक्षा का भगवाकरण लोकतंत्र का भगवाकरण है। लोकतंत्र का भगवाकरण प्रत्यक्षतः फासीवादी कदम है।